दिशा

लोकसंस्कृति का वर्तमान

वर्तमान समाज में लोकमूल्यों और लोकाचारों का संक्रमण कुछ तेजी से हो रहा है। एक तरफ भौतिक मूल्य हावी हो रहे हैं, तो दूसरी तरफ विज्ञानी बौद्धिकता। भौतिकता के प्रभाव की वजह से आध्यात्मिकता, नैतिकता और हार्दिकता का महत्त्व कम हुआ है। धर्म, खासतौर से कर्मकाण्डी धर्म से चिपटी संस्कृति के लिए अनास्था का भाव काफी पेला है। इसी वजह से पूजापाठ से जुड़ी लोकसंस्कृति उपेक्षा की शिकार होने लगी है। विज्ञानी विवेक ने उन्हीं भौतिक या लौकिक मूल्यों को स्वीकारा है, जो कसौटी पर खरे उतरे हैं। इसलिए अंधविश्वासों और अनुपयोगी घिसेपिटे आदर्शों का पानी अपने-आप उतर गया है और वे धीरे-धीरे गौण होकर विलुप्त हो गये हैं। लोक संस्कारों और लोकसंबंधों में अर्थ का महत्त्व काफी अंदर तक भिद गया है, जिससे उनकी पवित्रता, ममता और संबद्धता की भावना का क्षरण हुआ है। आर्थिक तंगी की वजह से कुछ छोटे-छोटे संस्कार अप्रचलित हो रहे हैं, बड़े और प्रमुख सिकुड़ते जा रहे हैं तथा अनिवार्य ऐच्छिक बन रहे हैं। दूसरी तरफ संस्कारों के आयोजन में प्रदर्शन की प्रवृत्ति छा गयी है, जिससे व्यय काफी बढ़ गया है। दहेज की प्रथा परिवार की प्रतिष्ठा का प्रतीक समझी जाने लगी है। लोकसंबंधों पर अर्थ काइ तना असर पड़ा है कि अच्छे ऊँचे प्रासादों, कीमती वस्त्राभरण, भौतिक समृद्धि के उपकरणों आदि के साथ-साथ लेन-देन के स्तर से हर तरह के संबंधों की नापजोख होती है। आशय यह है कि भौतिक मूल्यों ने काफी बदलाव ला दिया है।

देश के गणतंत्री विधान से स्वतंत्रता, समता और भाईचारे के मूल्यों की घोषणा की गयी थी, लेकिन प्रजातांत्रिक मानसिकता का विकास जल्दी नहीं हो सका। आज इन मूल्यों का पक्षधर वर्ग विद्यमान हे, पर प्रभावशाली नहीं हो पाया। राजनीतिक दृष्टि से सत्ता-वर्ग और शासित-वर्ग के बीच बहुत चौड़ी दरार फट पड़ी है। सत्ता वर्ग का प्रभुत्व अपनी अहमन्यता के रंग में इतना डूबा रहता है कि वह समता और भाईचारे की परवाह नहीं करता। रँगे सियार की तरह अपने आचरण में कोई-न-कोई मुलम्मा चंढ़ाता रहता है। वह धर्मनिरपेक्षता की बात करता है और वोट माँगने के लिए धर्म का कटोरा ले जाता है। यहाँ धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है-विभिन्न धर्मों का सह-अस्तित्व। हर धर्म और उसकी मान्यताओं का सम्मान और राज्य का कोई अपना विशिष्ट धर्म नहीं । इसका सबसे ज्यादा प्रभाव बौद्धिक व्यक्तियों पर पड़ता है, फिर प्रयास करने पर आम आदमी भी इसके घेरे में बँध जाता है। ऐसी स्थिति में धर्म का सामाजिक नियंत्रण शिथिल हो जाता है। वस्तुतः धार्मिक कट्टरता और धर्मजन्य पाखण्डों से उत्पन्न विषम परिस्थितियों और धार्मिक पण्डों की लूट-खसोट से आम आदमी का मन काफी हताश हो चुका है। दूसरे, कार्यालयों, होटलों, बसों, रेलों आदि जैसी आम जगहों में जाति-पाँति, छुआछूत, पवित्रापवित्र आदि का भेदभाव अब समाप्त प्राय-सा है। पवित्रता और पुण्य अब व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन तक सीमित रह गये हैं।इ न कारणों से धर्म से जुड़े सांस्कृतिक समवाय (पैटर्न्स) काफी परिवर्तित हो चुके हैं। इस स्थिति से सजग होकर एक वर्ग धर्म की उदार और व्यापक मान्यताओं और रीतियों का प्रसार करने के लिए उठ खड़ा हुआ है। बहरहाल, द्वंद्व और द्विविधा की दोनों स्थितियाँ भी मौजूद हैं और उनके साथ आम उपेक्षाओं की आँधी भी चल रही है।

जनसंख्या में वृद्धि होने से उत्पादन के प्रति जागरूकता बढ़ी है। उद्योग और रोजगार में प्रतिद्वंद्विता आयी है, जिससे हर आदमी क्रियाशील हुआ है। उद्योगों के प्रति और अधिक सचेतनता पैदा हुई है।ऊँ चे-नीचे-हर तरह के व्यवसाय को अपनाया जा रहा है। फलस्वरूप आदमी के जीवन में यांत्रिकता, अशान्ति और पीड़ा ने घर कर लिया है। एक तरह अनवकाश ने उसे कोल्हू का बैल बना दिया है, जिससे वह सांस्कृतिक उपादानों की ओर देखता तक नहीं, दूसरी तरफ जीवन की इस थकन और बेचैनी ने उसे प्रतिक्रिया के लिए उकसाया है, जिसे वह संस्कृति के प्रति नयी दृष्टि से देखने लगा है। मशीनी बोझिलता और निर्मम बौद्धिकता के खिलाफ एक मनहरण भावात्मक प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। दूसरा पक्ष यह भी है कि औद्योगीकरण ने पूँजी के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है, जिससे आदमी दो वर्गों में बँट गया है-१. पूँजीपति २. श्रमिक या मजदूर। पूँजीपति का इतना सम्मान है कि श्रमिक की उत्पादन-निष्ठा उसकी तिजोड़ी में

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

गिरवी रखी है। पूँजीपति श्रमिक के श्रम और दिमाग को गुलाम बनाने में कुशल है, पर श्रमिक की लोकसंस्कृति और लोककला पर उसका काबू नहीं है। उसने श्रमिक की ईमानदारी और हार्दिकता पर अवश्य चोट की है, जिससे लोकसंस्कृति भी आहत हुई है। अब श्रमिक वर्ग में से बहुत-से लोग इन लोकनाट्यों और लोकनृत्यों पर ध्यान नहीं देते, जिनसे अर्थ की कमाई नहीं होती। पूँजीपति के लिए वे मनोविनोद के सस्ते साधन हैं। वे उन्हें इसी दृष्टि से देखते हैं और कई मौकों पर कामुकता की प्यास बुझाते हैं।इ स अंचल की राई लोकनृत्य की कलाकार बेड़िनी ने एक साक्षात्कार में स्पष्ट कहा था कि उस पर कामुकता की आँख हमेशा लगी रहती है।

सामाजिक क्षेत्र में भी शक्ति किसी-न-किसी व्यक्ति के हाथ में रहती है। या तो उसके पास जन्म अथवा अर्जन से सामाजिक प्रतिष्ठा मिली हो या फिर वह पंच, सरपंच और किसी अन्य बड़े पद पर आसीन हो। यह शक्तिसम्पन्न व्यक्ति सामाजिक उत्सवों, त्योहारों और संबंधों को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करता है। रीति-रिवाजों, प्रथाओं और संस्कारों में सुधार या परिवर्तन करने का नेतृत्व अपने हाथ में लिये रहता है। लोकाचरण के परिष्करण और क्षरण, दोनों में उसी का हाथ होता है। सामाजिक दंड और पुरस्कार उसी की इच्छा की धुरी पर घूमते हैं। परिवार के मुखिया के अधिकार, परिवार के सदस्यों की भलाई के लिए होते हैं। लेकिन इस युग की आर्थिक विषमताओं से उपजी मानसिकता ने परिवार की संयुक्त व्यवस्था को टुकड़े-टुकड़े कर दिया है। पारिवारिक संबंधों के सूत्र बदल गए हैं। अब ममता, वात्सल्य, प्रेम, स्नेह आदि के पुराने साँचे चटक गये हैं।इ सलिए लोकाचरण ने नये रास्ते खोज लिए हैं और नयी सवारियाँ भी।

गाँव और नगर के बीच के रास्ते पक्के बन गए हैं, जिन पर चलकर नगर गाँव में और गाँव नगर में घुस आता है। नगर ज्यादा चतुर है, क्योंकि उसने बाहर से आयातित और भीतर से अर्जित चतुराई के पाठ अच्छी तरह याद किये हैं, जबकि गाँव अपनी परम्पराओं के प्रति निष्ठा के कारण अपने धरौअल वस्त्रों को ही पहनता रहा है, क्योंकि शहर के लिए उसे वे ही दाय में प्राप्त हुए थे। नगरों का पश्चिमीकरण के प्रति मोह परम्परित संस्कृति की उपेक्षा का प्रमुख कारण है। उसके आकर्षण में जन्म और विवाह जैसे लोकसंस्कार अपना रूप ही बदल रहे हैं। जन्मोत्सवों में केक कटती है, प्रकाश से प्रदीप्त मोमबत्तियाँ बुझती हैं और लोकगीतों की जगह 'हैपी बर्थ डे टु यू' गूँजता है। विवाह के प्रति हमारी भावना अब पहले जैसी नहीं रही। स्वागत-समारोह के प्रदर्शन और दहेज की चकाचौंध से विवाह की असली धर्मिता एक कोने में दुबकी रहती है। बरात के पश्चिमी नृत्य और मण्डप के फिल्मी गीत एक नये संस्कार की राह दिखा रहे हैं। वेषभूषा, खानपान, शिष्टाचार की रीतियाँ आदि बाहरी अंगों के साथ-साथ दृष्टि और भावना भी बदलने लगी हैं। नये नृत्य, नये गीत और नये रंजन उभरने लगे हैं। नारी अब शिक्षित, दीक्षित और आत्मनिर्भर होकर अधिक स्वतंत्र हो गयी है। बाहर सेवारत और क्लब-जीवन की आदी नारी घरेलू संस्कृति से मुक्त होकर अपने को अधिक योग्य समझने लगी है। लेकिन इस बदलाव से तमाम विसंगतियाँ और कुंठाएँ नागफनियों की तरह हर घर में फूट पड़ी हैं और बाहर के बैठकी गमलों से बढ़कर भीतर की उर्वर क्यारियों तक जा पहुँची हैं। धीरे-धीरे कैक्टसों के खिलाफ गुलाबों की प्रतिक्रिया उभर रही है और लोकसंस्कृति का प्रत्यावर्तन जल्दी ही संभव है।

गाँव नगर के प्रभाव से नहीं बच सका। उसने नगर के बाबू की तरह वस्त्र पहने, घड़ी और ट्रांजिस्टर जैसे नये उपकरण लिये और फिल्मी तराने गुनगुनाते हुए चहलकदमी करना शुरू किया। नगर की तरह सजावट, रहन-सहन, भोजन-पेय और संस्कार स्वीकृत हुए। संस्कृति के बाहरी अंगों की छवि नागरी होती गयी, पर भीतरी आत्मा नहीं बदली। इतना अवश्य है कि उस पर कई तरह के दबाव उसके खेतों की मेड़ों तक आकर खड़े हैं। मुश्किल यह हे कि गरीबी की फसलें उगाते केत इन नये मेहमानों का स्वागत करने में असमर्थ हैं।

वर्तमान काल की एक प्रवृत्ति है-आधुनिकीकरण, जिसे कुछ विद्वानों ने पश्चिमीकरण के पर्याय या पूरक रूप में आँका है। वस्तुतः आधुनिकीकरण का अर्थ भारतीय दृष्टि से आधुनिक होना है, पश्चिमी दृष्टि से आधुनिक होना नहीं। पश्चिमीकरण में वेष-भूषा, भोजन-पेय, विज्ञान, आर्थिकता, रीति-रिवाज, प्रथाएँ संस्थाएँ और मूल्यों में परिवर्तन आया, लेकिन उसे स्वीकारते हुए मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि उसे आधुनिकीकरण मानना उचित नहीं है। पश्चिम

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

ने जहाँ कुछ वरदान दीये हैं, वहाँ कुछ धीमे जहर भी। पश्चिम ने भारत को इहलौकिकता की तरफ मोड़ा, लेकिन भौतिकताबादी और पूँजीवादी मूल्य देकर उल्टी गंगा बहा दी। भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक रही है और प्रेम एवं शान्ति के साथ-साथ त्याग एवं बलिदान उसके प्रमुख तत्त्व रहे हैं। पश्चिम की भौतिकतावादी प्रवृत्ति से ही संग्रही मनोवृत्ति शुरू हुई। पूँजीवादी व्यवस्था ने ही दलाली की प्रथा को जन्म दिया, जिससे उत्पादकों और कृषकों का शोषण जारी हुआ। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मुश्किल तो यह है कि अंग्रेजों ने एक ऐसा वर्ग ही पैदा कर दिया था, जो अंग्रेजी आदर्शों की नकल करना ही अपना कर्तव्य समझता था। अब भी अंग्रेजियत के अवशेष मिलते हैं, पर उनके विरुद्ध एक प्रतिक्रियाशील शक्ति खड़ी हो गयी है।

एक विशेष सामाजिक संरचना का स्रोत आज का मध्यमवर्ग है, जो बहुत तेजी से उभर रहा है। वह भले ही विरासत में मिले त्यागपरक मूल्यों की उपेक्षा न करता हो या उनके प्रति उसका आक्रोश बहुत मुखर न हो, पर इतना अवश्य है कि वह भौतिक सुखों के भोग के लिए ही निरंतर दौड़ रहा है। अच्छा वेतन, मकान, सवारी, टी. वी. और सभी सुविधाएँ एक साथ प्राप्त करने के लिए उसकी महत्त्वाकांक्षा की चील मन के आकाश में रात-दिन मँडराती रहती है। कुछ भी नजर आया कि उसने झपट्टा मारा-केवल अपने, अपनी पत्नी और अपने बच्चों के लिए। दूसरों की चिन्ता नहीं। माँ-बाप, भाई-बहिन तक देहरी से बाहर, फिर समाज और देश तो बहुत दूर है। इसी जीवन-दृष्टि और पद्धति ने खण्डित व्यक्तित्वों, टूटते संबंधों, घरेलू त्रासदियों और अरक्षित मर्यादाओं को जन्म दिया है। चमक-दमक वाले रहन-सहन और दूसरों से होड़ लेती भोगोन्मुखी लालसाएँ, लोकाचरण और लोकमूल्य को बाहर और भीतर से प्रभावित करने में बहुत कुछ कारगर हुई हैं।

लोकसंस्कृति का आत्मसंघर्ष

ऐसी बदली हुई परिस्थतियों में लोकसंस्कृति की संघर्षधर्मी प्रवृत्ति का प्रधान हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। पुराने और नये की द्वंद्वात्मकता से ही वह प्रगति प्राप्त करती है और यह द्वंद्वात्मकता अब और तेज हो गयी है। एक तरफ घर की बड़ी-बूढ़ी सास का दबाव इतना है कि वह बहुओं और पुत्रियों को अमावस-पूनो की दिया-बाती के लिए मजबूर करता है, जबकि दूसरी तरफ किसी विज्ञानशाला में सेवारत बहिन या भाई फायदा या उपयोगिता का प्रश्नचिन्ह लगाकर अपनी माता के मुख में ताला जड़ देते हैं। घर से बाहर का समाज भी दो वर्गों में बँटकर दो ध्रुवों को पकड़े हुए है। एक वर्ग लोकसंस्कृति की वास्तविकता से अपरिचित होता हुआ भी प्रेम, धर्म और जुड़ाव की दुहाई देकर पक्षधर बना है, जबकि दूसरा वर्ग अंधविश्वासों, रूढ़िबद्धताओं और विषमताओं की खोज करता हुआ लोकसंस्कृति के तलाक के मामले को कचहरी में पेश करने की शपथ लेता रहता है। इन दो वर्गों में संघर्ष की घण्टी बार-बार बजती है, पर तटस्थ रेफरी (निर्णायक) न होने की वजह से अखाड़ा सूना रहता है। तीसरा वर्ग, जो पक्ष या विपक्ष के कठघरे में खड़ा नहीं होना चाहता या खड़ा होना उचित नहीं समझता, तमाशाई मानसिकता के सहारे एक अलग रस में डूबता-उतराता रहता है। बहरहाल, लोकसंस्कृति को खुद लड़ना है और उसका आत्मसंघर्ष जारी है। जीत की कसौटी है उसकी प्रासंगिकता या उपयोगिता और हथियार है-उपयोगिता को सिद्ध करने वाला परखाव।

प्रासंगिकता और परखाव

एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह हे कि क्या लोकसंस्कृति आज के लोकजीवन में उपयोगी है, प्रासंगिक है ? इस प्रशन के दो उत्तर हैं-पहला यह कि लोकसंस्कृति हर युग की लोकमान्य संस्कृति है और जो लोकमान्य नहीं है, वह न तो उपयोगी है और न प्रासंगिक। अतएव लोकसंस्कृति में यदि कुछ अनुपयोगी या कम उपयोगी बच रहता है, तो वह गौण होकर विलुप्त हो जाता है। मतलब यह है कि बदलाव की प्रक्रिया अपने आप होती रहती है और जो कुछ अनुपयोगी या अप्रासंगिक है, वह स्वतः उपयोगी और प्रासंगिक को अपनी जगह दे देता है। ठीक इसके विपरीत वह आस्था और विश्वास है कि मनुष्य अनुपयोगी या अप्रासंगिक को परखकर उसे बदल दे या बदलाव में सहायक बने। इसलिए दूसरा

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.

उत्तर है-परखाव की क्षमता। अनुपयोगी को पहचानना बहुत जरूरी है और उससे भी ज्यादा जरूरी है उपयोगी की उपयोगिता को परखकर सिद्ध करना। अतएव इस संदर्भ में मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि लोकसंस्कृति के विद्वान् जब इस दिशा में बढ़ेंगे, तब लोकसंस्कृति का वास्तविक रूप प्रकाश में आएगा।इ सी दृष्टि से वर्तमान की देहरी पर खड़े हुए उन सभी खोजकर्ताओं से मेरी अपील है कि वे गहरे पैठकर इस संक्रमण-रेखा को दिशा दें।

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र पहला संस्करणः १९९५

All rights reserved. No part of this book may be reproduced or transmitted in any form or by any means, electronic or mechanical, including photocopy, recording or by any information storage and retrieval system, without prior permission in writing.